

द्वितीय मंडल

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

देवमानव-समीक्षा प्रकरण

एकदा नैमिषारण्ये ज्ञानसंगम उत्तमः ।

मनीषिणां मुनीनां च बभूव परमाद्भुतः ॥ १ ॥

काश्याः पाटलिपुत्रस्य ब्रह्मावर्तस्य तस्य च ।

आर्यावर्तस्य सर्वस्य यानि क्षेत्राणि संति तु ॥ २ ॥

कपिलवस्तोर्विशेषेण तेभ्यः सर्वेऽपि संगताः ।

प्रज्ञापुरुषसंज्ञास्ते मूर्द्धन्या धन्यजीवनाः ॥ ३ ॥

टीका—एक बार मुनि मनीषियों का एक उत्तम ज्ञान संगम नैमिषारण्य क्षेत्र में हुआ, जो अपने आप में बड़ा अद्भुत था। आर्यावर्त, ब्रह्मावर्त, काशी, कपिलवस्तु, पाटलिपुत्र आदि समीपवर्ती क्षेत्रों के सभी मूर्द्धन्य उत्तम जीवनयापन करने वाले प्रज्ञा पुरुष उसमें एकत्र हुए ॥ १-३ ॥

व्याख्या—ज्ञान संगम इस भूमि की, ऋषि युग की विशेषता रही है। ज्ञान की अनेक धाराएँ हैं। अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ उन्हें समयानुरूप विकसित करते रहते हैं। विकसित धाराओं का उपयोग जनहित के लिए किया जाता है। वह तभी संभव है, जब भिन्न-भिन्न धाराओं में हुए विकास को जन आवश्यकता के अनुरूप मिलाकर जन साधारण तक पहुँचाने योग्य बनाया जाए। प्राचीनकाल में अध्यात्म और इस युग में विज्ञान का विकास इसी ढंग से संभव हुआ है।

ज्ञान धाराओं का संगम तब संभव हो पाता है, जब उन्हें समझने और अपनाने वाले मूर्द्धन्य श्रेष्ठ व्यक्ति उसमें रुचि लें। जिन्होंने उन्हें विकसित किया, ऐसे प्रज्ञा-पुरुष, और जिन्होंने उन्हें जीवन सिद्ध बनाया, ऐसे उत्तम जीवन जीने वाले अग्रगामी दोनों ही प्रकार के सत्पुरुष इस संगम में एकत्रित हुए हैं।

औषधियाँ बनाई जाती हैं फिर उन्हें निश्चित क्षेत्र में प्रयुक्त किया जाता है। सेना के लिए अस्त्र विकसित किए जाते हैं, कुशल व्यक्तियों द्वारा उनका प्रयोग-परीक्षण किया जाता है। उनके आधार पर विकसित करने वाले तथा प्रयोग करने वाले गंभीर परामर्श करते हैं, संशोधन करते हैं, तब वह संगम बनता है, जिससे व्यापक स्तर पर उन उपलब्धियों को व्यवहार में लाया जा सके।

समागमाः पुराप्येव समये जनबोधकाः ।

काले काले भवंति स्म सद्विचाराभिमन्थनैः ॥ ४ ॥

बहुमूल्यानि रत्नानि यथा सागरमन्थनैः ।

यत्र दिव्यानि सर्वाणि प्रादुर्भूतानि संततम् ॥ ५ ॥

मनीषिणोऽधिगच्छेयुर्मार्गदर्शनमुत्तमम् ।

शोचितुं कर्तुमेवाऽपि सहैवाऽत्र जनाः समे ॥ ६ ॥

लभन्तां समयं मुक्त्यै काठिन्यात्प्रगतेः पथि ।

गन्तुं चाऽपि समारोह एतदुद्दिश्य निश्चितः ॥ ७ ॥

टीका—समागम पहले भी समय-समय पर होते रहते थे, ताकि विचार मंथन से समुद्र मंथन की तरह कोई बहुमूल्य रत्न निकले, मनीषियों को अधिक सोचने और करने का सामयिक प्रकाश मिले, साथ ही जन समुदायों को कठिनाई से छूटने और प्रगति पथ पर अग्रसर होने का अवसर उपलब्ध होता रहे। इस बार का समारोह भी इसी प्रयोजन के लिए नियोजित किया गया था ॥ ४-७ ॥

व्याख्या—समुद्र मंथन से विचार मंथन अधिक लोकोपयोगी है। समुद्र मंथन से रत्न एक बार ही निकले थे, पर विचार मंथन से रत्नों की प्राप्ति हर काल में होती रहती है। इसलिए मनीषी लोग विचार मंथन के लिए एकत्र होते रहते हैं। यों विचार मंथन अकेले भी होता है, पर जब कई मनीषी एक साथ बैठकर विचार मंथन करते हैं, तो एक दूसरे के विचारों से उभरने वाली प्रेरणा से, स्फूर्ति से सामान्य की अपेक्षा अनेक गुना लाभ मिलता है।

सभी उपनिषद् दर्शन आदि ऋषियों के विचार मंथन से उपजे रत्न हैं। वे अनंत काल से अगणित व्यक्तियों को लाभ पहुँचाते आ रहे हैं। योग और चिकित्सा के सूत्र भी ऐसे ही विचार मंथन से विकसित हुए हैं। प्राचीनकाल में मंत्रि-परिषदें राज्य की, समाज की विभिन्न समस्याओं के समाधान इसी प्रकार विचार मंथन से निकालती थीं। ऋषिगण भी अपने-अपने आश्रमों आरण्यकों में यह क्रम चलाते थे। जब तक यह परिपाटी चली, तब तक समयानुकूल विचारों, आदर्शों की शोध होती रही, आचरण होते रहे और सामाजिक उत्कर्ष का क्रम सतत चलता रहा।

जिज्ञासानां समाधानहेतोरत्र विशेषतः ।

व्यवस्था विहिता प्रातर्नित्यकर्मविनिर्वृत्तौ ॥ ८ ॥

सत्संगो निश्चितः सर्वैस्तत्र रम्ये तपोवने ।

क्रमः सप्ताहपर्यन्तं भविष्यत्यपि निश्चितः ॥ ९ ॥

तद्दिने विधिवत्तस्य शुभारंभो बभूव च ।

अभूत्तत्र सभाध्यक्ष आश्वलायन उत्तमः ॥ १० ॥

सर्वे कुर्वन्ति प्रश्नान् स्वान् सभाध्यक्षः क्रमादसौ ।

उत्तरं दास्यतीत्येवं व्यवस्था तत्र निश्चिता ॥ ११ ॥

टीका—जिज्ञासाओं के समाधान के लिए उस समागम में विशेष व्यवस्था की गई थी। प्रातः नित्य कर्म से निवृत्त होने

२.२ प्रज्ञोपनिषद्

पर सत्संग चलाने का निश्चय उस रमणीय तपोवन में हुआ। एक सप्ताह तक यह क्रम चलना था। सो उस दिन उसका विधिवत शुभारंभ हुआ। सत्राध्यक्ष आश्वलायन थे। ऐसी व्यवस्था थी, कि प्रश्न कोई भी कर सकते थे और उत्तर केवल सत्राध्यक्ष ही देते थे ॥ ८-११ ॥

प्रथमे दिवसे तत्र जिज्ञासां प्रस्तुतां व्यधात्।

ऐतरयो महर्षिः स श्रेष्ठ आचारवान् मुनिः ॥ १२ ॥

देव लब्धाः समानास्ताः सुविधा मानवैः समैः।

प्रभुदत्ताः परं तेषु मानवाः केचनात्र तु ॥ १३ ॥

उदरं भरितायां ते संतानोत्पत्तिकेऽथवा।

सीमिताश्च सदैवात्र तैलयन्त्रवृषा इव ॥ १४ ॥

जीवनं यापयन्त्येवं पशुतुल्यस्थितिं गताः।

ताडिताः पतिताः किं वा जनैः सर्वैस्तिरस्कृताः ॥ १५ ॥

संकटानात्महेतोश्च भावयन्ति सदैव ते।

पातयन्ति जनानन्यान् पीडयन्त्यपि संततम् ॥ १६ ॥

टीका—प्रथम दिन की जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए सदाचारी मुनि श्रेष्ठ ऐतरेय ने पूछा हे देव मनुष्य को ईश्वर प्रदत्त सभी सुविधाएँ प्रायः समान मात्रा में उपलब्ध हैं। पर उनमें कुछ तो पेट-प्रजनन भर तक सीमित रहकर कोल्हू के बैल के समान मरते-खपते पशुओं की तरह साँसें पूरी कर लेते हैं। कुछ पतित-तिरस्कृत बनते प्रताड़नाएँ सहते दिन गुजारते हैं। अपने लिए संकट खड़े करते और दूसरों को सदा गिराते-सताते रहते हैं। १२-१६ ॥

ईदृशा अपि संत्यत्र जना ये स्वयमुन्नताः।

भवन्त्यन्यान् यथाशक्ति सदैवोत्थापयन्त्यपि ॥ १७ ॥

तारयन्ति स्वयं श्रेयो यशः सम्मानमेव च।

सहयोगं महामर्त्या विन्दन्त्येते सुरोपमाः ॥ १८ ॥

असंख्याः प्रेरणां तेभ्यः प्राप्नुवन्ति तथैव च।

पुरावृत्तकरास्तेषां गाथाः स्वर्णाक्षरेषु च ॥ १९ ॥

लिखन्त्यस्या भिन्नतायाः कारणं किं च विद्यते।

उच्यतां भवता देव विषयेऽस्मिन्स्तु विस्तरात् ॥ २० ॥

टीका—किंतु कुछ ऐसे भी होते हैं, जो स्वयं ऊँचे उठते, दूसरों को उठाते, पार करते, श्रेय प्राप्त करते हैं। ऐसे देवोपम महामानवों को यश सम्मान और सहयोग भी मिलता है। असंख्य उनसे प्रेरणाएँ ग्रहण करते हैं। इतिहासकार उनकी गुण-गाथाएँ स्वर्णाक्षरों में लिखते हैं। इस भिन्नता का कारण क्या है? सो समझाकर कहिए ॥ १७-२० ॥

प्रश्नकर्ता ऋषि ने मनुष्य को तीन स्तरों में विभाजित किया है।

(१) वे जो मनुष्य जन्म का भी पशु स्तर तक ही प्रयोग करते हैं। विचार, भावना एवं विशेष क्रिया शक्ति का प्रयोग ही नहीं करते। ढर्रे का जीवन भर जीते हैं।

(२) वे, जो मनुष्य को प्राप्त विशेषताओं के उपयोग के लिए लालायित तो रहते हैं, पर उन्हें उत्थान की जगह पतन की उलटी दिशा में लगा लेते हैं।

(३) तीसरे वे जो मानवीय विशेषताओं का सही ढंग से प्रयोग करने में सफल हो जाते हैं।

प्रश्नकर्ता यह जानना चाहते हैं कि एक ही योनि के प्राणी मनुष्य में इतना अंतर कैसे और क्यों हो जाता है?

आश्वलायन उवाच

तात मर्त्याः समानाः वै निर्मिताः प्रभुणा समे।

प्रियाः सर्वेऽपि तस्यात्र निर्विशेषं दयानिधे ॥ २१ ॥

सर्वेभ्यो व्यतरत् सोऽत्र समानाः सुविधाः प्रभुः।

मार्गं चिन्वन्ति मर्त्याश्च स्वेच्छया मार्गमाश्रिताः ॥ २२ ॥

यांति तत्रैव यत्रायं विरामं मार्गं एति च।

उच्यन्ते स्वार्थिनस्त्वत्र पशवो नररूपिणः ॥ २३ ॥

स्वार्थमेवानुगच्छन्ति नरास्ते तु प्रतिक्षणम्।

अन्येषां सुखसौविध्ये सहयोगं न कुर्वन्ते ॥ २४ ॥

प्राप्नुवन्ति यदेवैतद् निगिरन्ति च पूर्णतः।

कष्टे कस्यापि नोदेति भावना प्रत्यहं च ते ॥ २५ ॥

साहाय्यस्याऽपि नोदेति भावना प्रत्यहं च ते।

अन्विष्यति परत्रेह निजास्ताः सुविधो नराः ॥ २६ ॥

सहानुभूतिमेतेऽपि नाप्नुवन्ति च कस्यचित्।

जीवंतो नीरसं मृत्योर्दिवसान् पूरयन्ति ते ॥ २७ ॥

टीका—आश्वलायन बोले हे तात भगवान ने सभी मनुष्य समान बनाए हैं। उस दयानिधि को सभी पुत्र समान रूप से प्यारे हैं। सभी को उसने समान सुविधाएँ तथा परिस्थितियाँ भी प्रदान की हैं। लोग अपनी इच्छानुसार मार्ग चुनते हैं और जहाँ वह मार्ग जाता है, वहाँ जा पहुँचते हैं। स्वार्थ-परायणों को नर पशु कहते हैं। वे अपने काम से काम रखते हैं। दूसरों की सुख-सुविधा में हाथ नहीं बँटाते। जो पाते हैं, निगलते रहते हैं। किसी के दुःख में उन्हें सहानुभूति नहीं उपजती। सहायता करने की इच्छा भी नहीं होती। लोक और परलोक में अपनी ही सुविधाएँ खोजते हैं। ऐसों को किसी की सहानुभूति भी नहीं मिलती। फलतः वे एकाकी नीरस जीवन जीते हुए मौत के दिन पूरे करते हैं ॥ २१-२७ ॥

व्याख्या—दयालु परमपिता प्यार के नाते विकास के अवसर सभी को देता है। विकास के अवसरों का लाभ उठाकर जो व्यक्ति योग्यता बढ़ा लेते हैं, उन्हें वह महत्वपूर्ण कार्य योग्यताओं के आधार पर सौंपता है। विकास के अवसर और सौंपे गए कार्य इन दोनों में अंतर न कर पाने से मनुष्य समझता है, कि भगवान किसी को अधिक अवसर देता है, किसी को कम।

मार्गों के लक्ष्य निश्चित हैं, पर मनुष्य चुनते समय मार्ग

के लक्ष्य की अपेक्षा मार्गों की सुविधाओं को रुचि अनुसार चुन लेता है। जो मार्ग पकड़ लिया, उसी के गंतव्य पर पहुँचना पड़ता है, फिर यह चाह महत्त्व नहीं रखती, कि कहाँ पहुँचना चाहते थे।

जो स्वार्थ तक ही सीमित हैं, वे नर पशु हैं। पशु अपने शरीर निर्वाह, अपनी रक्षा और अपने वंश विस्तार से अधिक सोच नहीं पाते। मनुष्य सोचने की क्षमता रखता तो है, पर स्वार्थवश पशुओं की सीमा से आगे बढ़ता नहीं इसलिए नर पशु कहलाता है

स्वार्थी किसी अन्य से सहानुभूति नहीं बरत पाता, इसलिए उसे भी वह नहीं मिलती। वह नीरस एकाकी जीवन जीता है।

येषां प्रवृद्धास्त्वाकांक्षा आतुरा विभवाय ये।

अहंत्वाप्यै स्पृहास्त्येषां कुबेर इव चाद्वयताम् ॥ २८ ॥

वृत्रहेव सुसामर्थ्यमधिगन्तुं सदैव तु।

सज्जास्ते जीवितुं नैव सामान्यैरिव नागरैः ॥ २९ ॥

दर्पाहंकारयोनैव विना ते तु प्रदर्शनम्।

तृप्तिं नानुभवन्त्येव पुरुषाश्चेदृशा द्रुतम् ॥ ३० ॥

अर्जितुं संपदः स्वस्य वर्चः स्थापयितुं समे।

कुटुंबस्यापि जायन्ते व्यग्रा लोकैषणारताः ॥ ३१ ॥

टीका—जिनकी महत्त्वाकांक्षाएँ अतिशय बढ़ी-चढ़ी हैं, जो बड़प्पन और वैभव बटोरने के लिए आतुर हैं, जिन्हें कुबेर सा धनी, इंद्र सा समर्थ बनने की ललक है, वे औसत नागरिक का सामान्य जीवन जीने और संतोषपूर्वक रहने के लिए तैयार नहीं होते। दर्प और अहंकार प्रदर्शन किए बिना जिन्हें तृप्ति नहीं होती। ऐसे लोग जल्दी ही संपदा बटोरने और अपना तथा परिवार का वर्चस्व बढ़ाने के लिए आतुर हो उठते हैं ॥ २८-३१ ॥

व्याख्या—नर पशुओं से भी गिरे नर पिशाचों की मनोदशा का वर्णन करते हुए यह चित्रण किया गया है। नर पशु सामान्य जीवन की ही कल्पना कर पाते हैं, इसलिए उनके स्वार्थ से सीमित हानियाँ होती हैं, परंतु इसी स्वार्थी श्रेणी के वे लोग जिनकी महत्त्वाकांक्षाएँ बढ़ी-चढ़ी होती हैं, उनकी स्थिति नर पशुओं से भिन्न होती है। ऐसे व्यक्तियों की

(१) औसत नागरिक जीवन पसंद नहीं होता।

(२) बड़प्पन धन, वैभव बटोरने के लिए वे उचित ढंग से उचित माध्यमों की प्रतीक्षा नहीं कर पाते, उद्यत हो उठते हैं।

अस्या उत्कटलिप्सायां पूर्त्यै गृह्णांति ते ततः।

कुकर्माचरणं तत्र प्रवृत्तीरासुरीः सदा ॥ ३२ ॥

मार्गमेतद् विना ते च नरा नानुभवन्ति तु।

वृत्त्या सरलतया स्यातां सात्त्विकत्वं च सौम्यता ॥ ३३ ॥

श्रमस्तत्र विशेषः स धैर्यवन्ता तथैव च।

अल्पलाभ सुसंतोषवृत्तिमन्ताऽप्यपेक्षिता ॥ ३४ ॥

स्वीकुर्वन्ति न चेदं ते पुरुषा उद्धता इह।

अन्यान् वञ्चयितुं लोकांस्तथा पातयितुं पुनः ॥ ३५ ॥

शोषणं पीडनं नृणां कर्तुं नैव कदाचन।

संकोचं तेऽधिगच्छन्ति राक्षसाः क्रूरतां गताः ॥ ३६ ॥

टीका—इस उत्कट ललक लिप्सा की पूर्ति के लिए उन्हें कुकर्म करने और अपराधी असुर प्रवृत्तियाँ अपनाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहता। सौम्य सात्त्विकता तो सादगी के साथ ही निभती है। उसमें अधिक परिश्रमी, धैर्यवान और स्वल्प संतोषी रहना पड़ता है। यह उन उद्धतों को स्वीकार्य नहीं होता। ऐसी दशा में दूसरों को ठगने, चूसने, गिराने और सताने में क्रूरता के धनी को कोई संकोच नहीं होता ॥ ३२-३६ ॥

व्याख्या—उद्धत स्थिति में ऐसे लोग कुकर्म और अपराधी मार्ग ही अपनाने हैं। उचित ढंग अपनाने का धैर्य न होने से वे शोषण की अनीति अपनाने हैं। सौम्यता की संपदा एकत्र नहीं कर पाने से क्रूरता के धनी बन जाते हैं, उसी का उपयोग करते हैं।

असुराः दानवाः ह्येते दैत्याः नूनं नराः समे।

पिशाचानां च वर्गोऽपि गण्यन्ते स्वार्थसौहृदाः ॥ ३७ ॥

जुगुप्स्यास्ते भयाल्लोभादेवमर्त्यैः कदाचन।

अनुनेयाः परं रोषः सर्वेषां हृदि तान् प्रति ॥ ३८ ॥

प्राप्यैवावसरं लोकाः प्रतिशोधं भजन्ति च।

मित्राण्यपि च शत्रुत्वं भजन्ते समये सति ॥ ३९ ॥

धिक्त्वैवैतेषु सर्वत्र वर्षतीह प्रताडनम्।

सहन्ते ते लभन्ते च दण्डं राजसमाजयोः ॥ ४० ॥

नारक्यस्ताडनास्तेभ्यः परलोके सुनिश्चिताः।

अशांतास्ते परान् सर्वानशांतानेव कुर्वन्ते ॥ ४१ ॥

टीका—यह नर पिशाच वर्ग है। इन्हें असुर या दैत्य दानव भी कहते हैं। उन पर घृणा बरसती है। भय या लोभ से ही कोई उनकी चापलूसी भले करे। भीतर ही भीतर सभी को रोष रहता है। दाँव लगते ही लोग प्रतिशोध लेते हैं। मित्र भी अवसर मिलने पर शत्रु जैसा आचरण करते हैं। सर्वत्र उन पर धिक्कार बरसती है। वे आत्म प्रताड़ना सहते हैं। समाज दंड भी भुगतने पड़ते हैं। परलोक में उनके लिए नारकीय प्रताड़नाएँ सुनिश्चित ही हैं। वे सदा अशांत रहते हैं तथा औरों को भी अशांत बनाते हैं ॥ ३७-४१ ॥

व्याख्या—दुष्टों को सहयोग समर्थन भयवश मिलते हैं, भावनावश नहीं। इसीलिए मौका मिलते ही किसी अन्य भय या लोभ के कारण लोग उन्हें हानि पहुँचा देते हैं। उन्हें ऊपर दर्शाए कई रूपों में अपनी दुष्टता का दंड मिलता रहता है।

२.४ प्रज्ञोपनिषद्

वर्गस्तृतीयोऽप्यत्रास्ति देवमानवरूपिणाम् ।
आकांक्षा लौकिकीन्यक्त्वा सामान्यैर्नागरैरिव ॥ ४२ ॥
जीवनं निर्वहन्त्यत्र परिवारं लघुं निजम् ।
स्वावलंबिनमित्यर्थं कुर्वतेऽपि च संस्कृतम् ॥ ४३ ॥
संग्रहेच्छां न गृह्णन्ति दर्पं नैव महत्त्वगम् ।
वाञ्छन्त्येवं प्रियां विप्रवृत्तिं स्वीकुर्वतामिह ॥ ४४ ॥

तीसरा वर्ग देवमानवों का है। वे लौकिक महत्वाकांक्षाओं को विसर्जित करके औसत नागरिक का निर्वाह स्वीकार करते हैं। परिवार छोटा रखते और उसे स्वावलंबी-सुसंस्कारी बनाते हैं। संग्रह की लालसा नहीं रखते। बड़प्पन का दर्प दिखाने की भी इच्छा नहीं रखते और स्वेच्छा से ब्राह्मण वृत्ति अपना लेते हैं ॥ ४२-४४ ॥

व्याख्या—देव मानव साधारण मनुष्यों में से ही उठकर आते हैं। हर व्यक्ति भगवान की सृष्टि की साकार प्रतिमा है। जब उसे यह बोध नहीं रहता कि वह क्या है व यहाँ क्यों आया है तो प्रभु उसे बोध भी करा देते हैं। मनोकामनाओं के बंधन से छुड़ाकर उसे नर-नारायण बना देते हैं।

नृणां परार्थकार्येषु बाधानैवोपजायते ।
निर्वाहः परमार्थश्च सिद्ध्यतः सार्धमेव तु ॥ ४५ ॥
अनुभवन्ति च प्रत्यक्षमिदं ते देवमानवाः ।
गुणकर्मस्वभावानां स्तरं कुर्वन्ति प्रोन्नतम् ॥ ४६ ॥
क्षणं नैव तु व्यर्थं ते हापयन्ति सदैव च ।
विवेकस्याथ शौर्यस्य दायित्वस्याऽपि मानवाः ॥ ४७ ॥
विश्वास-भावनायाश्च शुभादर्शः स्वजीवनम् ।
ओतं प्रोतं प्रकुर्वन्ति दिव्यां दृष्टिं श्रयन्ति च ॥ ४८ ॥

टीका—श्रेष्ठ वृत्तियाँ अपना लेने के उपरांत फिर मनुष्य को परमार्थ प्रयोजनों में संलग्न होने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। निर्वाह और परमार्थ भली प्रकार साथ-साथ निभता रह सकता है, इसे वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अपने गुण, कर्म, स्वभाव का स्तर उठाते हैं। एक क्षण भी निरर्थक नहीं गुजारते। समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी के आदर्शों से जीवन को ओत-प्रोत करते हैं तथा दिव्य दृष्टि प्राप्त करते हैं ॥ ४५-४८ ॥

व्याख्या—सामान्य व्यक्ति को यह लगता है कि परमार्थ करेंगे, तो निर्वाह में कमी पड़ जाएगी। यह सामान्य वृत्तियों के लिए सही भी हो सकता है। श्रेष्ठ वृत्ति वालों का निर्वाह व्यय बहुत सीमित रह जाता है तथा पुरुषार्थ बहुत बढ़ जाता है। उनका निर्वाह उनके पुरुषार्थ के एक छोटे से अंश से ही पूरा हो जाता है। शेष जो बचता है वह परमार्थ में ही लगाते हैं।

एकनिष्ठ होकर उच्च उद्देश्यों के लिए क्षण-क्षण का उपयोग करने वाले गुणों की दैवी संपदा को सच्ची संपदा

समझने वालों को दिव्य दूरदर्शिता अपनानी पड़ती है।

अत्र ते चात्मकल्याणं विश्वकल्याणमेव च ।
प्रयोजनं तु पश्यन्ति सिद्धमेवोभयं नराः ॥ ४९ ॥
हृदि चोत्कृष्टताहेतोः श्रद्धा नित्यं च चिंतने ।
प्रज्ञोदेति शुभादर्शपक्षगा मंगलोन्मुखी ॥ ५० ॥
फलतश्चेदृशा मर्त्या देवतुल्यप्रवृत्तयः ।
व्यवहारे स्वके लोकमानसस्य परिष्कृतेः ॥ ५१ ॥
सत्प्रवृत्तिविकासस्य शुभे द्वेऽपि प्रयोजने ।
स्वीकुर्वन्ति च मुख्यत्वाद् वंशराष्ट्राभिपूजिताः ॥ ५२ ॥

टीका—आदर्शवादी जीवनक्रम में वे आत्म कल्याण और विश्व कल्याण के दुहरे प्रयोजन सधते देखते हैं। अंतःकरण में उत्कृष्टता के प्रति श्रद्धा चिंतन में आदर्शों की पक्षधर मंगलमयी प्रज्ञा उभरती है। फलतः ऐसी देवोपम प्रवृत्ति के लोग अपने कर्म-व्यवहार में लोकमानस के परिष्कार और सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के दो प्रयोजनों को प्रमुखता देते हैं और अपने वंश व राष्ट्र में पूजे जाते हैं ॥ ४९-५२ ॥

व्याख्या—सामान्य दृष्टि वाले व्यक्ति परमार्थ परायण जीवन में व्यक्तिगत हानि देखते हैं। आत्मकल्याण की बात भी सोचते हैं तो संसार को मिथ्या कहकर केवल अपने भले की बात को महत्त्व देते हैं। महामानव स्तर के व्यक्ति ऐसा मार्ग पकड़ते हैं, जो आत्म कल्याण और विश्व कल्याण दोनों को एक साथ उपलब्ध कराता है। लोकमानस के परिष्कार के प्रयास से व्यक्ति स्वयं भी परिष्कृत होता रहता है। समाज में सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने में उसके अंदर भी वे पनपती हैं। इस प्रकार दोहरा लाभ मिल जाता है।

सञ्चितं ज्ञानमेतेषामभ्यस्तः पुण्यदायकः ।
परार्थः सततं कार्यरूपतामधिगच्छतः ॥ ५३ ॥
आत्मसंतोषमेतः प्राप्नुवन्ति तथैव तु ।
सम्मानं सहयोगं च विपुलं ते भजन्त्यपि ॥ ५४ ॥
अनुकंपा च दैवी सा वर्षतीवात्र तेषु तु ।
त्रिविधानां सुयोगानां कारणादंतरंगके ॥ ५५ ॥
क्षेत्रे यांति महत्त्वं ते लभन्ते चोन्नतिं तथा ।
संसारे प्रगतेर्मार्गे ते नराः अभियान्त्यलम् ॥ ५६ ॥

टीका—उनका संचित सद्ज्ञान और अभ्यस्त पुण्य परमार्थ निरंतर कार्यान्वित होता रहता है। फलतः वे असीम आत्मसंतोष पाते हैं। लोक सम्मान और सहयोग उन्हें प्रचुर मात्रा में मिलता है। दैवी अनुकंपा निरंतर बरसती है। इन त्रिविध सुयोगों के कारण वे अंतरंग क्षेत्र में महान बनते, ऊँचे उठते और संसार क्षेत्र में प्रगति पथ पर आगे बढ़ते रहते हैं ॥ ५३-५६ ॥

व्याख्या—सामान्य व्यक्ति अपने सद्गुणों को केवल अपने भले के लिए प्रयुक्त करने के मोह में उन्हें रोके रहता है। न वे

प्रयोग में आने पाते हैं, न अपना प्रभाव दिखा पाते हैं। सत्पुरुषों को अपने ज्ञान और पुरुषार्थ को अविरल प्रयुक्त करने का अभ्यास होता है। इसी आधार पर उन्हें ऊपर वर्णित तीन अतिमहत्वपूर्ण विभूतियाँ मिलती रहती हैं। वे अंतरंग और बाह्य जगत दोनों में संतोषजनक प्रगति करते और श्रेय सम्मान पाते हैं।

ईदृशा एव लोकाश्च महामानवसंज्ञकाः।

उच्यन्ते धन्यतां यांति स्वयं चान्यान्नरानपि ॥ ५७ ॥

संपर्के चागतान् धन्यान् कुर्वते चंदनस्य ते।

द्रुमा अन्यान् सुगंधाश्च यथावृक्षान्निरंतरम् ॥ ५८ ॥

तेषामेव जनानां च कारणात् सकलं स्वयम्।

वातावरणमित्यर्थं जायते गंधवंधुरम् ॥ ५९ ॥

दुःखदग्धा अपीहैते गन्धं धूपइवोत्तमम्।

प्रकाशमपि तन्वंति प्रदीप इव प्रोज्ज्वलम् ॥ ६० ॥

यस्मिन् काले तथा क्षेत्रे पुरुषाः ईदृशा भुवि।

जायन्ते तानि सर्वाणि धन्यतां यांति भूतले ॥ ६१ ॥

टीका—इसी प्रकार के व्यक्तियों को महामानव कहते हैं। वे स्वयं धन्य बनते हैं। संपर्क वालों को चंदन वृक्ष की तरह धन्य बनाते हैं। उनके कारण समूचा वातावरण महकने लगता है। जलने पर भी वे धूप की तरह सुगंध और दीप की तरह सुगंध और दीप की तरह प्रकाश फैलाते हैं। जिस समय क्षेत्र में ऐसे लोग जन्मते हैं, वह भी उनकी गतिविधियों के कारण धन्य बन जाता है ॥ ५७-६१ ॥

व्याख्या—महामानव की उपमा सदैव से चंदन वृक्ष से दी जाती रही है। सर्प जैसे दुष्ट प्राणी भी उनके संसर्ग में दुष्टता भूलकर शांति का अनुभव करते हैं। परंतु उनके विष दोषों से सत्पुरुष नितांत अप्रभावित रहते हैं। अपना प्रभाव, सुगंध, आसपास के वृक्षों तथा क्षेत्र पर डालते रहते हैं। कटने, घिसने, पिसने, जलने पर भी सुवास ही देते हैं। सभी उन्हें सम्मान सहित माथे से लगाते हैं, देवताओं पर चढ़ाते हैं। इसीलिए स्वयं धन्य होते हैं, संपर्क के व्यक्ति और क्षेत्र भी धन्य बन जाते हैं।

मुनयो वयमत्रैवं महत्तापथमाश्रिताः।

प्रतीयमानाश्चाभावैर्गस्ताः अपि निरंतरम् ॥ ६२ ॥

सम्मानास्पदमायाता जनानामत एव तु।

मार्ग एषोऽस्ति वै देवमानवानां सुनिश्चितम् ॥ ६३ ॥

कर्तव्यमिदमस्माकं मार्गेऽस्मिन् गंतुमुन्मुखाः।

जनाः सर्वे यथास्युस्ते तथा प्रेर्या निरंतरम् ॥ ६४ ॥

सुखमुत्कर्षजन्यं ते लप्स्यन्ते वयमप्यलम्।

श्रेयोऽधिकारिणः स्याम बहुमूल्यं यदुच्यते ॥ ६५ ॥

टीका—हे मुनि वर्ग हम सब महानता के पथ पर चले हैं। अभावग्रस्त दीखने पर भी जन-जन के सम्मानास्पद बने

हैं। देव जनों का यही मार्ग है। हमारा कर्तव्य है कि जन-जन को इसी मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें। इससे उन्हें उत्कर्षजन्य सुख मिलेगा और हम श्रेयाधिकारी बनेंगे, जो बहुमूल्य कहा जाता है ॥ ६२-६५ ॥

व्याख्या—महानता के पथ पर चलने वाले अभावग्रस्त जैसे दिखते भर हैं, होते नहीं। उनके पास दैवी संपदा की भारी पूँजी होती है, जिससे चाहें तो लौकिक संपदा भी पैदा की जा सकती है। जन-जन को श्रेष्ठ मार्ग पर चलने की प्रेरणा वे ही दे सकते हैं, जो स्वयं उस मार्ग के नैष्ठिक साधक हों और जनता की श्रद्धा के पात्र भी हों। श्रेष्ठ मार्ग पर चलने वालों को उन्नति का सुख मिलता है और चलाने वाले श्रेय पाते हैं।

महामानवसंज्ञानामुत्पादनमिहोदितम् ।

उद्यानं कल्पवृक्षाणां स्थापनं पुण्यदं यथा ॥ ६६ ॥

प्रयासेऽस्मिंश्च प्रत्येकदृष्ट्या स्वस्यापि सम्मतम्।

कल्याणं पुरुषैरन्यैः सहैव विश्वमंगलम् ॥ ६७ ॥

स्वीकृतौ संयमस्याथ संतोषस्यापि ते जनाः।

विप्रवृत्तौ च सामर्थ्यमवशिष्यत एव यत् ॥ ६८ ॥

सत्प्रवृत्तिविकासे च पुण्ये च परमार्थके।

नियुज्यते तु ये तेऽत्र साधवः संस्मृता बुधैः ॥ ६९ ॥

टीका—महामानवों का उत्पादन इस विश्व में कल्प वृक्षों के उद्यान के लगाने जैसा पुण्य फलदायक है। उस प्रयास में हर दृष्टि से, हर किसी का साथ ही अपना भी कल्याण है, जिसे विश्वकल्याण कहना अधिक उपयुक्त है। संयम एवं संतोष की ब्राह्मण वृत्ति अपनाने के उपरांत जो सामर्थ्य बचती है उसे सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन में लगाने, पुण्य परमार्थ में नियोजित करने वाले ही साधु कहलाते हैं ॥ ६६-६९ ॥

व्याख्या—महामानवों को कल्पवृक्ष के समान कहा गया है। कल्पवृक्ष के सान्निध्य में हर व्यक्ति कामना पूर्ति का सुख पाता है। महामानवों के प्रयास से ही अभाव दूर होते हैं। इसीलिए महामानव बनाने, बढ़ाने का प्रयास सर्वोपरि परमार्थ है। संयम से बचाना और परमार्थ में लगाना ही साधुता है।

सतामेव च देशोऽयमस्माकं पथिशोभने।

आत्मकल्याणके पादन्यासोऽस्माभिः कृतोऽत्र च ॥ ७० ॥

द्वितीयश्चरणोऽयं स्याद्देवमानवनिर्मितौ।

संलग्नाः स्याम एवेह सुखं शांतिरनेन च ॥ ७१ ॥

स्यातां पंथाः प्रशस्तः स्यात्प्रगतेरपि संततम्।

समृद्धेश्च नहि न्यूना योगाभ्यासादियं भुवि ॥ ७२ ॥

लोकानां साधनायां च स्वीकृत्योभयथा स्वतः।

प्रयोजनं सुसिद्धं स्यान्निर्बाधं मंगलोन्मुखम् ॥ ७३ ॥

टीका—हमारा देश तो संतों का है ही। आत्म कल्याण के मार्ग पर कदम बढ़ा चुके, अब दूसरा चरण यह उठाना

२.६ प्रज्ञोपनिषद्

चाहिए कि संसार में देव मानवों के उत्पादन में जुट पड़ें। इसी से संसार की सुख-शांति बढ़ेगी। प्रगति और समृद्धि का पथ प्रशस्त होगा। लोक साधना किसी भी योगाभ्यास से कम नहीं है। इसे अपनाने पर दुहरा प्रयोजन निर्बाध रूप से सधता है। जिसका प्रवाह मंगलोन्मुख होता है ॥ ७०-७३ ॥

व्याख्या—महानता के मार्ग पर दो चरणों में अग्रसर हुआ जाता है। आत्म कल्याण और जनकल्याण। लोक जीवन को ऊँचा उठाना ही लोक साधना है। इसी में ऊपर कहे दोनों चरण शामिल हैं। लोक साधना से वे सभी लाभ पाए जा सकते हैं, जो किसी उच्चस्तरीय योग साधना से प्राप्त होते हैं।

भारत संतों का देश रहा है, वेश से नहीं, प्रवृत्तियों से। ऋषिगण सारे विश्व में घूमकर जन-जन का मार्गदर्शन करते थे। इसीलिए सारे विश्व में भारत को संतों का देश माना जाता रहा है। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः अपने चरित्रों के प्रभाव से सारे विश्व के मानवों का शिक्षण करते रहने का उद्घोष ऋषियों का ही रहा है।

संत के वेश में तो संत गए ही हैं, व्यापारी एवं शासकों के रूप में भी इस देश से संत ही गए हैं। यदि कहीं अनीति करने वाले राजा मिले, तो उन्हें परास्त करके राज्य पर स्वयं अधिकार नहीं किया, उन्हीं में से किसी सत्पुरुष को राज्य सौंप दिया। श्रीराम ने बालि को मारकर सुग्रीव और रावण को मारकर विभीषण को राज्य दिया।

श्रीकृष्ण ने जीवन भर युक्त किया, पर कहीं की सत्ता नहीं छुई। सत्पात्रों को ही अधिकार सौंपते रहे। परशुराम जी ने भी २१ बार दुष्टों के हाथ से राज्य छीनकर सज्जनों को सौंपा था। स्वयं कुछ नहीं लिया। सभी का प्रयास एक ही रहा है, कि सज्जनों की परिपाटी विश्व स्तर पर बनी रहे।

पुराणानामृषीणां तां दिव्यां साधुपरंपराम्।

महामानवनिर्माणे रताः स्याम स्वयं तथा ॥ ७४ ॥

प्रव्रज्या तीर्थयात्रायामपि तस्य कृते सदा।

अस्मादेव च लोकेषु पशुवृत्तिभ्य एव ते ॥ ७५ ॥

पैशाचिक कुकृत्येभ्यो विरतिः स्यात्पिशाचता।

क्षीणा स्यात्पशुशोधने महामानवतोदयः ॥ ७६ ॥

तीर्थयात्राऽभिसंबद्धप्रयोजनप्रसंगतः ।

यथा समयमस्माकं गतयो विधयस्तथा ॥ ७७ ॥

वर्द्धिता अधिकं स्युः सा लक्ष्यप्राप्तिर्यतो भवेत्।

यां विना भूतले सत्ययुगस्य स्यान्न संभवः ॥ ७८ ॥

टीका—हम ऋषियों की महान परंपरा अपनाकर महामानवों के उत्पादन में निरत रहें और उसके लिए प्रव्रज्या की तीर्थ-यात्रा में निरत रहें। इसी से लोगों को पशु-प्रवृत्तियों और पैशाचिक उद्दंडताओं से विरत होने का दबाव पड़ेगा। महामानव बढ़ते हैं, तो पशु सुधरते और पिशाच दबते हैं।

तीर्थयात्रा के प्रयोजन में अब हमारी गतिविधियाँ समय को देखते हुए और भी अधिक बढ़ जानी चाहिए, ताकि हम लक्ष्य को प्राप्त कर सकें, क्योंकि बिना पृथ्वी पर सतयुग नहीं आ सकेगा ॥ ७४-७८ ॥

व्याख्या—मानव की पशुता और पैशाचिकता को किसी दबाव या उपदेश से दूर नहीं किया जा सकता। उसे श्रेष्ठता का सशक्त वातावरण ही ठीक करता है और यह महामानवों की संख्या बढ़ने से ही संभव होता है। नरपशु उदाहरण से सुधर जाते हैं, पिशाचों पर दबाव देना पड़ता है, नियंत्रण में रखना पड़ता है। महामानव महामानवों के संपर्क से ही बनते हैं। इसीलिए महामानव तीर्थयात्रा क्रम में सतत संपर्क चलाते रहते हैं।

सत्पुरुषों के सान्निध्य से पशु स्तर के लोग सुधर जाते हैं, पिशाच स्तर वालों को शक्तिपूर्वक दबाना पड़ता है।

भगवान श्रीराम की वनयात्रा प्रारंभ हुई। अविकसित स्तर के आदिवासी जो केवल स्वार्थ में लगे रहते थे, वे सहज उत्साह में ही श्रेष्ठ मार्ग में लग गए। उनका स्वार्थ परायण होने का कारण उचित प्रेरणा-मार्गदर्शन का अभाव भर होता है। सत्पुरुषों के सान्निध्य से उनमें उत्साह जागता है केवट निषाद से लेकर कोल भील तक सज्जनता के आवरण में आ जाते हैं। किंतु मारीच, सुबाहु, ताड़का, खरदूषण आदि को शक्ति प्रयोग से दबाना पड़ता है।

श्रीकृष्ण के सान्निध्य में ग्वाल बालों से लेकर मथुरावासियों तक में सज्जनता का संचार हुआ, परंतु कंस, जरासंध, कौरवों आदि को बलपूर्वक ही दबाना पड़ा। महामानवों के बढ़ने से ही वातावरण बदलता है। जब जिस तरह का परिवर्तन आवश्यक हुआ तब उसी तरह के महामानव पैदा हुए हैं।

जब विदेशी आक्रांता स्वदेश में छा गए तो लगातार महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल, गुरु गोविंद सिंह, बंदा वैरागी जैसे शौर्य संपन्न सत्पुरुष पैदा हुए।

जनचेतना इंकृत करने के लिए चैतन्य, मीरा, सूर, तुलसी, नानक, दादू आदि की शृंखला उमड़ पड़ी।

भारत स्वतंत्रता के क्रम में तिलक, गोखले, रानाडे, गाँधी, सुभाष, नेहरू, पटेल, राजेंद्र प्रसाद, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन और आजाद, भगतसिंह, सचीन जैसे सत्पुरुषों का क्रम बना आगे भी यही क्रम चलना है।

सत्पुरुषों के उत्पादन और वातावरण परिष्कार के लिए श्रेष्ठ जनों द्वारा तीर्थयात्रा क्रम ही उपयोगी रहा है।

नारद जी इसी निमित्त सदा चलते रहते थे रुकते नहीं।

बुद्ध के परिव्राजक सतत चलते रहने का संकल्प लेकर ही निकलते थे। दूर देशों तक उन्होंने हाथ में बोधिवृक्ष की

डाल लेकर तीर्थ यात्राएँ कीं।

जगद्गुरु शंकराचार्य ने भी भज गोविंदम् की धुन बोलते हुए देश के चारों कोने एक कर दिए थे।

चैतन्य महाप्रभु संकीर्तन से सद्भाव जगाते बंगाल से ब्रज तक और फिर द्वारिका तक तीर्थयात्रा क्रम से ही चले।

संत तुलसी दास जी ने तो सत्पुरुषों के समूह को चलता-फिरता तीर्थराज कहा है जो जग जंगम तीर्थ राजू उसे सत्पुरुषों के उत्पादन का अमोघ सूत्र माना है।

मज्जन फल पेखिय तत्काला।

काक होंहि पिक, बकहु मराला ॥

सत्पुरुषों के सान्निध्य से उस दिव्य तीर्थ में स्नान से कौए जैसी प्रवृत्ति के कठोर व्यक्ति कोयल जैसे मधुर स्वभाव के हो जाते हैं। बगुले जैसे छली हंस जैसे मुक्ता चुनने वाले नीर-

क्षीर विवेक संपन्न हो जाते हैं। इसीलिए ऋषिगण तीर्थयात्रा क्रम को अधिक बढ़ाने का संकल्प लेते हैं।

प्रश्नोत्तरेण चानेन तत्रत्यानामभूमहान्।

संतोषस्तु सतां तस्माद् युगधर्मानुरूपतः ॥ ७९ ॥

तीर्थयात्राऽभिसंबद्धां पुण्यां तां च परंपराम्।

सोत्साहं तैर्विधातुं तु निश्चितं समुदायगैः ॥ ८० ॥

शांतिपाठेन चाऽन्योन्यं वंदनक्रियया समम्।

सत्संगोऽद्यतनस्तत्र समाप्तिं प्रययौ शुभः ॥ ८१ ॥

टीका—इस प्रश्नोत्तर क्रम से सभी उपस्थित संत समुदाय को बड़ा संतोष हुआ। उनसे युग धर्म की दृष्टि से तीर्थयात्रा की पुण्य परंपरा को और भी अधिक उत्साह के साथ चलने का निश्चय किया। शांति पाठ और अभिवंदन की प्रक्रिया के साथ आज का संत समागम विसर्जित हो गया ॥ ७९-८१ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञोपनिषदि ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः

श्री आश्वलायन-ऐतरेय-संवादे देवमानव-समीक्षा इति प्रकरणो नाम

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥